आज्ञा देता है धरणीधर । मेरा अभिप्राय स्पष्ट कर ।
छिपा रखा शब्दके भीतर । हमने यहां ॥ ५५ ॥

परमात्माका मनोरथ । हमें दिखाता है तू मूर्त ।
यह कहने पर चित्त । उमड आयेगा ॥ ५६ ॥

इसलिये यह नहीं कहते । किंतु कहनेसे नहीं रहते ।
श्रवण-सुखसे हैं हम पाते । ज्ञान-नौका यहां ॥ ५७ ॥

अब तू इस पर । कहता जो श्रीधर ।
हमें कह सत्वर । जो यथार्थ ॥ ५८ ॥

सुन कर यह संतोंका वचन । बोले निवृत्तिदास मुदित मन ।
करो ध्यानसे चित्त देके श्रवण । कहा जो श्रीहरिने ॥ ५९ ॥

कहते हैं तुझको अर्जुन । यह चिन्ह समुच्चय पूर्ण ।
श्रवण किया वह अज्ञान । मूर्तिरूप था ॥ ८६० ॥

अज्ञानसे मुडकर । ज्ञानमें पांडुकुमार ।
निश्चय कर सत्वर । दृढतासे तू ॥ ६१ ॥

उस ज्ञानसे अर्जुन । होगा ज्ञेयका दर्शन ।
सुन अर्जुनका मन । करता जिज्ञासा ॥ ६२ ॥

तब वह सर्वज्ञ-श्रेष्ठ । जानके यह भाव स्पष्ट ।
अभिप्राय कहके तुष्ट । करेगा ज्ञेयका ॥ ६३ ॥

ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वामृतमश्नुते ।
अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते ॥ १२ ॥

ज्ञेयका स्वरूप—

जिसको यह ज्ञेय कहना । उसका कारण है इतना ।
वह जो कभी ज्ञानके बिना । जाना नहीं जाता ॥ ६४ ॥

कहूँगा ज्ञेय मैं सारा पानेसे अमृतत्व है ।
अनादि जो पर ब्रह्म है परे अस्तिनास्तिके ॥ १२ ॥

तथा उसको जानने पर । रहता नहीं कर्तव्य फिर ।
उससे मिलती निरंतर । तद्रूपता ॥ ६५ ॥

उस ज्ञान प्राप्तिके नंतर । संसार रहता तट पर ।
डूबा ही रहता निरंतर । नित्यानंदमें ॥ ६६ ॥

ज्ञान होता है ऐसे । आदी न होती जिसे ।
पर-ब्रह्म है ऐसे । कहते उसको ॥ ६७ ॥

इसको यदि नहीं कहते । विश्वाकारसे इसे देखते ।
यदि इसे विश्व ही कहते । विश्व है माया ॥ ६८ ॥

रूप वर्ण तथा व्यक्ति । नहीं दृश्य द्रष्टा स्थिति ।
वह है ऐसी जो मति । होगी किसकी ॥ ६९ ॥

और यदि यह नहीं है । महदादि तत्व कैसे हैं ।
कहांसे स्फुरण होते हैं । यह प्रश्न उठता ॥ ८७० ॥

तभी हैं अस्ति नास्ति ये बोल । देख यह मूक होते फोल ।
विचारकी चहल पहल । रुक जाती है ॥ ७१ ॥

जैसे घटका मटकाकार । बन रहती पृथ्वी साकार ।
वैसे सबमें सब होकर । रहता ज्ञेय ॥ ७२ ॥

सर्वतः पाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम् ।
सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ॥ १३ ॥

सभी स्थल-कालमें उनसे । भिन्न नहीं होते स्थल-कालसे ।
होती स्थूल सूक्ष्म क्रिया भूतोंसे । हाथोंसे उनके ॥ ७३ ॥

उसको इसी कारणसे । कहते विश्वबाहू ऐसे ।
जो सर्वत्र सर्व-रूपसे । करता सदैव ॥ ७४ ॥

दीखते पद हस्तादि सर्वत्र उसके शिर ।
मुख आंख तथा कान सबको घेरके रहे ॥ १३ ॥

तथा वह सर्वत्र समस्त । स्थानमें होता है प्राप्त ।
सभी रूपमें पूर्ण-दर्शित । सो विश्वतःपाद ॥ ७५ ॥

सविताको जैसे नहीं नयन । अवयव में दीखते हैं भिन्न ।
किंतु करता सबका दर्शन । वह स्वरूप ॥ ७६ ॥

इसीलिये वह विश्वतचक्षु । वास्तवमें होकर जो अचक्षु ।
कहलाता बोलनेमें जो दक्ष । वेदसे भी ॥ ७७ ॥

जो है सबके शिर पर । रहता है नित्य तत्पर ।
आत्म-सत्तासे होके स्थिर । तभी है विश्वमूर्ध्न ॥ ७८ ॥

जैसे संपूर्ण मूर्ति ही मुख । हुताशनका वैसे है देख ।
वैसे है सर्व-मुखसे अशेष । है वह भोक्ता ॥ ७९ ॥

इसीलिये सुन पार्था । विश्वतोमुख व्यवस्था ।
चली आयी है वाक्प्रथा । श्रुतिसे ही ॥ ८८० ॥

वस्तु-मात्रमें गगन । जैसे रहता संलग्न ।
वैसे शब्दमें हैं कान । जिसको सर्वत्र ॥ ८१ ॥

इसीलिये हम जिसे । सभी सुनता है वैसे ।
कहते हैं सदा जिसे । विश्व-व्यापक ॥ ८२ ॥

वैसे तो सुन महामती । विश्वतः चक्षु आदि श्रुति ।
दिखाती है उसकी व्याप्ति । मूर्तिरूपसे ॥ ८३ ॥

इसीलिये नेत्र-पाद-हस्त । सभी भाषा है व्यर्थ ।
तथा शून्य भी अयुक्त पार्थ । वर्णनमें यहां ॥ ८४ ॥

कल्लोल निगलता कल्लोल । यही देखते हम सकल ।
ग्रासता ग्राससे जो सलिल । भिन्न है क्या ॥ ८५ ॥

वैसे सत्य ही जो एक । जो है व्याप्त औ' व्यापक ।
किंतु भाषा-हेतु देख । होता है भेद ॥ ८६ ॥

होता है जब शून्य दिखाना । पडता हैं बिंदु ही लिखना ।
वैसे जब अद्वैत कहना । द्वैतकी भाषामें ॥ ८७ ॥

नहीं तो सुन पार्थ । गुरु-शिष्य सत्पथ ।
टूट जाता सर्वथा । शब्द ही रुकेगा ॥ ८८ ॥

इसी कारणसे श्रुति । द्वैत भावसे करती ।
स्पष्ट अद्वैतकी स्थिति । परंपरासे ॥ ८९ ॥

सुन तू वही अब धनुर्धर । यहां जो नेत्र-गोचर आकार ।
वह सब ज्ञेय इस प्रकार । विश्व-व्यापक है ॥ ८९० ॥

सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम् ।
असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च ॥ १४ ॥

ब्रह्मदर्शनकी कृतार्थता—

अर्जुन वह व्याप्त है ऐसे । अवकाशको आकाश जैसे ।
वस्त्र रूपसे हैं तंतु जैसे । होते हैं व्याप्त ॥ ९१ ॥

उदकमें जैसे रसत्व । दीपमें जैसे प्रकाशत्व ।
वैसे व्याप्त है वह तत्व । सदा सर्वत्र ॥ ९२ ॥

कर्पूरत्वसे कर्पूरमें जैसे सौरभ । सौरभ भरा रहता है वैसे ।
कर्म-रूपसे शरीरमें वैसे । बसता शरीर ॥ ९३ ॥

अथवा जैसे है अर्जुन । स्वर्णमें व्यापता है सुवर्ण ।
वैसे ही सर्वांग-संपूर्ण । बसता है वह ॥ ९४ ॥

कण रूपमें रहता सुवर्ण । कहते तब सुवर्णका कण ।
टूटता है कण-रूप सुवर्ण । स्वर्ण कहते तब ॥ ९५ ॥

प्रवाह जब टेडा बनता । पानी है तब सीधा रहता ।
आगसे लोहा लाल हो जाता । न होता वह अग्नि ॥ ९६ ॥

गोल होता जब घटाकार । नभ होता तब गोलाकार ।
होता है जब घर चौकाकार । नभ भी वैसे ही ॥ ९७ ॥

वह जो इंद्रियातीत उनके कार्य भासते ।
अ-स्पर्शसे धरे सारे अगुण गुण भोगके ॥ १४ ॥

आकाशका नहीं होता आकार । दीखता जैसे वह सर्वाकार ।
अकाशपे नहीं होते विकार । वैसी वह वस्तु ॥ ९८ ॥

मन मुख्य इंद्रियोंसे । तथा सत्वादि गुणसे ।
आकार लेता है वैसे । दीखता यहां ॥ ९९ ॥

जैसे मीठेकी जो मिठास । न होती आकारमें खास ।
नहीं होता वह विशेष । गुणोंद्रियोंमें ॥ १०० ॥

अजी ! है दूधकी स्थितिमें । घृत होता उसी रूपमें ।
तथा दूधके अभावमें । घृत ही घृत ॥ १ ॥

यहां है वह विकारसे । विकृत नहीं होता वैसे ।
गहना आकार नामसे । नहीं तो सोना सोनाही ॥ २ ॥

यहां यदि स्पष्ट रूपसे । कहना हो सरलतासे ।
वह है गुण-इंद्रियोंसे । भिन्न तत्व ॥ ३ ॥

नभ-रूपका संबंध । जाति क्रिया आदि भेद ।
यह आकार प्रवाद । तत्वका नहीं ॥ ४ ॥

अजी ! वह कोई भी गुण नहीं । गुणसे उसका संबंध नहीं ।
किंतु गुणोंको उसके तई । होता भास ॥ ५ ॥

यहां इसी कारणसे । मति संभ्रम होनेसे ।
उसमें विकार ऐसे । देखते हैं ॥ ६ ॥

उन विकारोंका धारण । जैसे बादलोंको गगन ।
या है प्रतिबिंब दर्पण । करते वैसे ॥ ७ ॥

अथवा सूर्य प्रति मंडल । धरता है पृथ्वीपे सलिल ।
या रश्मि-करमें मृगजल । धरता वैसे ॥ ८ ॥

वैसे है संबंधके बिन । सबको धरता निर्गुण ।
किंतु वह है व्यर्थ जान । भ्रांत-दृष्टि ॥ ९ ॥

इस भांति है निर्गुण । भोगता है सब गुण ।
रंकका राज धारण । स्वप्नमें जैसे ॥ ९१० ॥

इसीलिये गुणका संग । अथवा होना गुण-भोग ।
वह है निर्गुणमें त्याग । नहीं होता ॥ ११ ॥

बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च ।
सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चांतिके च तत् ॥ १५ ॥

चराचर भूतोंमें होता । विविध अग्नि पांडुसुत ।
किंतु होती जैसी उष्णता । अभेद रूपसे ॥ १२ ॥

वैसे ही अविनाश भावसे । रहता पूर्ण सूक्ष्म रूपसे ।
व्याप्त होकर जान उसे । यहां तू ज्ञेय ॥ १३ ॥

एक जो बाहर अंदर । वही एक पास औ' दूर ।
उस एकसे धनुर्धर । नहीं अन्य ॥ १४ ॥

अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम् ।
भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च ॥ १६ ॥

क्षीर-सागरमें जैसा । माधुर्य होता एक-सा ।
तटमें मध्यमें वैसा । पूर्ण है जो ॥ १५ ॥

स्वेदज अंडजादिक । भूतोंमें व्याप्त जो एक ।
न होता उसमें देख । कभी न्यून ॥ १६ ॥

जिस प्रकार अनेक घटोंमें । प्रतिबिंब पडते सहस्रोंमें ।
किंतु भिन्नता नहीं चंद्रिकामें । वैसे ही पार्थ ॥ १७ ॥

या नाना लवण-कण राशिमें । क्षारता एक-सी होती सबमें ।
अथवा अनेक इक्षु-दंडमें । मिठास एक-सी ॥ १८ ॥

एक है जो अंतर्बाह्य जो है एक चराचर ।
जो है दूर तथा पास सूक्ष्मत्वसे अगम्य जो ॥ १५ ॥

अभेद भूत-पात्रोंमें रहा है जो विभक्त-सा ।
जन्म दे पालता भूत लीलता अंतमें स्वयं ॥ १६ ॥

वैसे अनेक भूत-जात । उस एकसे ही व्याप्त ।
विश्व-कार्यका वही पार्थ । कारण एक ॥ १९ ॥

इसीलिये सब भूताकार । जिसका एक-मात्र आधार ।
जैसे तरंगोंका है सागर । आधार एक ॥ ९२० ॥

बाल्यादि स्थितियोंमें जैसे । शरीर है एक ही वैसे ।
सृष्टि-स्थिति-लयमें वैसे । अखंड है वह ॥ २१ ॥

सायं प्रातः पाध्यान्ह । चलता दिनमान ।
किंतु जैसे गणन । रहे एक-सा ॥ २२ ॥

सृष्टि-वेलामें प्रियोत्तम । कहते हैं जिसको ब्रह्म ।
व्याप्तिमें है जो विष्णु नाम । पडा उसको ही ॥ २३ ॥

मिटता है जब आकार । रुद्र तब प्रलयंकर ।
रहता तब शून्याकार । मिटते गुणत्रय ॥ २४ ॥

निगलकर नभका शून्य । मिटाकर जो गुणको अन्य ।
रहता है शून्य महाशून्य । श्रुति-वचन ऐसा ॥ २५ ॥

ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते ।
ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य विष्ठितम् ॥ १७ ॥

अग्निका जो दीपन । चंद्रका जो जीवन ।
सूर्यके हैं नयन । देखते जिससे ॥ २६ ॥

सदैव जिसका उजियाला । प्रकाशता तारागण-माला ।
जिससे महा-तेज है खिला । सुखसे सर्वत्र ॥ २७ ॥

जो है आदिका आदि । तथा वृद्धिकी वृद्धि ।
बुद्धिकी भी है बुद्धि । जीवका जीव ॥ २८ ॥

कहाता तेजका तेज तथा तम तमांधका ।
ज्ञानका ज्ञान जो ज्ञेय सबका हृदयस्थ है ॥ १७ ॥

मनका है जो मन । नेत्रका है नयन ।
कानका है जो कान । वाचाकी वाचा ॥ २९ ॥

प्राणका है जो प्राण । गतिके हैं चरण ।
क्रियाका कर्तापन । जिससे है ॥ ९३० ॥

आकारता जिससे आकार । विस्तारता उससे विस्तार ।
संहारता उससे संहार । धनंजय यहां ॥ ३१ ॥

जो है मेदिनीकी मेदिनी । जो पानीको पीकर पानी ।
तेजका प्रकाश-दायिनी । महा-तेजशक्ति ॥ ३२ ॥

वायुका है वह श्वासोच्छ्वास । तथा गगनका अवकाश ।
इन सबका है जो आभास । आभासता जिससे ॥ ३३ ॥

अथवा है यह अर्जुन । सबमें है सर्वस्व पूर्ण ।
वहां नहीं होता दर्शन । द्वैतका कभी ॥ ३४ ॥

होते ही इसका दर्शन । मिटता दृश्य-द्रष्टा पूर्ण ।
हो जाता है जब मिलन । समरस भावसे ॥ ३५ ॥

फिर होता वहीं ज्ञान । ज्ञाता ज्ञेयका दर्शन ।
औ' ज्ञानसे प्राप्ति-स्थान । वह भी यही ॥ ३६ ॥

जैसा समाप्त होते लेख । संख्या सब हो जाती एक ।
वैसे साध्य-साधनादिक । आता एकत्वमें ॥ ३७ ॥

जिस स्थानमें अर्जुन देख । नहीं होता द्वैतका उल्लेख ।
वही होता हृदयमें एक । भूतमात्रके ॥ ३८ ॥

इति क्षेत्रं तथा ज्ञानं ज्ञेयं चोक्तं समासतः ।
मद्भक्त एतद्विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते ॥ १८ ॥

कहा है अल्पमें क्षेत्र वैसे ही ज्ञान ज्ञेय भी ।
जानके भक्त है मेरा पाता श्रायुज्य है मम ॥ १८ ॥

आत्माके एकत्वका विवेचन–आत्मानात्म विचार—

इस प्रकारसे पार्थ । पहलेसे ही निश्चित ।
स्पष्ट किया क्या है खेत । विवेचनसे ॥ ३९ ॥

वैसे ही क्षेत्र-दर्शन । करने दिये नयन ।
कहते हैं जिसे ज्ञान । कहा वह भी ॥ ९४० ॥

वैसे ही अज्ञान लक्षण । किये सविस्तर वर्णन ।
जिसे सुनकर अर्जुन । थका होगा तू ॥ ४१ ॥

तथा स्पष्टतासे पार्थ । कहा देकर दृष्टांत ।
ज्ञेय-स्वरूप निश्चित । समझाके ॥ ४२ ॥

यह जो विवेचन संपूर्ण । करता है हृदय ग्रहण ।
मत्सिद्धि भावना प्राण । करता सहज ॥ ४३ ॥

तब देहादिका परिग्रह । होता है संन्यास निराग्रह ।
तथा प्राण होता निरीह । सेवक मेरा ॥ ४४ ॥

तब वे मैं ही हूं अर्जुन । अंतिम आसरा है जान ।
कर मुझे चित्त अर्पण । होते मद्रूप ॥ ४५ ॥

मद्रूप होनेका पथ । रचाया सुन तू पार्थ ।
सुलभ और निश्चित । हमने यह ॥ ४६ ॥

चढनेमें जैसे सीढी रचते । अथवा ऊपर मंच बांधते ।
तथा अपनी नांव भी रखते । तैरने पूरमें ॥ ४७ ॥

सब कुछ है यदि यहां आत्मा । ऐसा कहता तो मैं वीरोत्तम ।
ग्रहण न करना मनो-धर्म । यह बात मेरी ॥ ४८ ॥

इसीलिये था जो एकाकार । कर बताये चार प्रकार ।
देखके तेरी पांडुकुमार । मंद बुद्धि ॥ ४९ ॥

शिशुको जब खिलाते । ग्रास बीस कर देते ।
वैसे ही चार कहे थे । हमने एकके ॥ ९५० ॥

एक क्षेत्र औ' एक ज्ञान । एक ज्ञेय एक अज्ञान ।
भाग किये ये तेरी जान । ग्रहण-शक्ति ॥ ५१ ॥

किंतु इस भांतिसे भी पार्था । मंतव्य समझमें न आता ।
तब यह दूसरी व्यवस्था । कहता तुझे ॥ ५२ ॥

चार भाग यहां नहीं करूंगा । एक ही तत्व नहीं कहूंगा ।
आत्मानात्म विचार कहूंगा । अब तुझसे ॥ ५३ ॥

किंतु तुझे इतना करना । ध्यान पूर्वक बात सुनना ।
श्रवणोंका है नाम रखना । अपना ही ॥ ५४ ॥

सुनकर कृष्ण वचन पार्थ । प्रसन्न-मन हुवा रोमांचित ।
कृष्ण मानता हुई है अंकित । बात इनपे ॥ ५५ ॥

इससे हुवा भावावेग । समेट कहता श्रीरंग ।
प्रकृति-पुरुष विभाग । कहता हूं सुन ॥ ५६

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि ।
विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसम्भवान् ॥ १९ ॥

कहते जिसे योगी-जन । सांख्य-योग इसे अर्जुन ।
जिसको कहनेमें मान । हुवा मैं कपिल ॥ ५७ ॥

सुन तू अब निर्दोष । प्रकृति-पुरुष विवेक ।
कहता है आदि पुरुष । अर्जुनसे वहां ॥ ५८ ॥

प्रकृति प्रेरित कर्मका भोक्ता—

पुरुष अनादि है साथी । उसकी रही है प्रकृति ।
जैसे है दिवस औ' राति । दोनों अनादि ॥ ५९ ॥

रूप नहीं होता व्यर्थ । छाया होती उसके साथ ।
दाने सह भूसा भी पार्थ । बढता जैसे ॥ ९६० ॥

प्रकृति-पुरुषकी है जोडी जान अनादि तू ।
होते प्रकृतिके द्वारा विकार गुण है सब ॥ १९ ॥

दोनो रहते हैं वैसे साथ । प्रकृति-पुरुष होते व्यक्त ।
परस्पर चिपके हैं पार्थ । अनादि सिध्द ॥ ६१ ॥

जिसका नाम क्षेत्र । कहा है एक-मात्र ।
जानता है सर्वत्र । प्रकृति उसे ॥ ६२ ॥

तथा क्षेत्रज्ञ है ऐसे । कहा है जिसको उसे ।
मानता पुरुष उसे । यह है स्पष्ट ॥ ६३ ॥

इनके हैं ये नाम भिन्न । किंतु तत्व एक अर्जुन ।
न भूलना यह लक्षण । यहां कभी ॥ ६४ ॥

रही है यहां जो सत्ता । वही पुरुष है पार्थ ।
प्रकृति नाम समस्त । क्रिया मात्रका ॥ ६५ ॥

बुध्दि इंद्रिय-अतःकरण । इत्यादि है विकार भरण ।
तथा रहे हैं वे तीनों गुण । सत्व रजादिक ॥ ६६ ॥

इन सबका मिलन । प्रकृतिसे हुवा जान ।
इसीसे होते उत्पन्न । सभी कर्म ॥ ६७ ॥

कार्यकरणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते ।
पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते ॥ २० ॥

वहां इच्छा बुध्दि सहित । अहंकार सह धाटित ।
उसे चस्का लगाते पार्थ । करणोंका ॥ ६८ ॥

यही कारण करने संपन्न । जिन उपयोंका सूत्र चालन ।
उसको कहते सुन अर्जुन । कार्य है यह ॥ ६९ ॥

तथा इच्छा मदके द्वारा । प्रकृतिने मन उभारा ।
औ' इंद्रियोंका व्यवहार । वह है कर्तृत्व ॥ ९७० ॥

कहा प्रकृतिके पास कर्तृत्व देह-इंद्रिका ।
तथा पुरुषके पास भोक्तृत्व सुख दुःखका ॥ २१ ॥

तभी यह तीनों जान। कार्य कर्तृत्व कारण।
प्रकृति मूल श्रीकृष्ण। कहता यहां ॥ ७१ ॥

ऐसे तीनोंके ही समन्वयसे। प्रकृति होती है कर्म-रूपसे।
फिर जो गुण बढ़ाता है जैसे। लेती है वह रूप ॥ ७२ ॥

सत्व-गुणसे जो बनता। वह सत्कर्म कहलाता।
रजसे जो है निपजता। वह है मध्यम ॥ ७३ ॥

जिसका आधार है तम। ऐसे होते हैं सब काम।
कहलाते हैं वे अधम। जान तू यहां ॥ ७४ ॥

ऐसे होते हैं प्रकृतिसे। भले बुरे कर्म जो जैसे।
उत्पन्न होते हैं उनसे। सुख दुःख ॥ ७५ ॥

असत्कर्मसे दुःख उत्पन्न। सत्कर्मसे है सुख अर्जुन।
उन दोनोंको कहते जान। भोग पुरुषका ॥ ७६ ॥

सुख दुःख सब जब तक। सच मानते हैं तब तक।
प्रकृति कर्मरत है देख। औ' पुरुष भोगता ॥ ७७ ॥

प्रकृति पुरुषका संसार। आति असंगत धनुर्धर।
लाती है भार्या जो कमाकर। खाता है भर्ता ॥ ७८ ॥

तथा भर्ता भार्या परस्पर। नहीं करते संग संसार।
और सुनो यह चमत्कार। प्रकृति जनती जग ॥ ७९ ॥

पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान्गुणान्।
कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु ॥ २१ ॥

प्रकृतिके गुणोंसे होने वाला भास—

यह भर्ता है निराकार। निष्क्रिय निर्गुण है और।
जरा-जीर्ण है धनुर्धर। वृध्दातिवृध्द ॥ ९८० ॥

बंधा है प्रकृतीसे जो उसके गुण भोगता।
शुभाशुभ जन्म पाता प्रकृति-संगसे यह ॥ २१ ॥

वह नाम मात्रका है पुरुष । नहीं नर नारी जो नपूंसक ।
अथवा मानो नहीं जाने एक । क्या है निश्चित ॥ ८१ ॥

वह है अचक्षु अश्रवण । तथा जो अ-हस्त अ-चरण ।
जिसका नहीं रूप औ' वर्ण । नाम भी नहीं ॥ ८२ ॥

जहां कुछ भी नहीं है पार्थ । देखती वहां प्रकृति भर्ता ।
इससे उसे भोगना होता । सुख दुःख ॥ ८३ ॥

वह है जो अकर्ता । उदास औ' अभोक्ता ।
किंतु है पतिव्रता । भोगती है ॥ ८४ ॥

उसके गुण-रूपका मेल । कर दिखाता है बड़ा खेल ।
दिखाती झांकी वह केवल । धनुर्धर ॥ ८५ ॥

इस प्रवृत्तिको यहां अब । गुण-मयी कहते हैं सब ।
अथवा वह गुणोंकी सब । मूर्ति ही है ॥ ८६ ॥

प्रति-पलमें यह नित्य-नूतन । दिखाती है गुणोंका रंग अर्जुन ।
जिससे जड़ भी उन्मादित मन । होते उन्मत्त ॥ ८७ ॥

यही है नामको प्रसिद्ध । करती है स्नेहसे स्निग्ध ।
होती हैं इंद्रियां प्रबुध्द । इससे ही ॥ ८८ ॥

अजी ! कहते हैं मन नपूंसक । किंतु भोगती वह तीनो लोक ।
ऐसे ऐसे हैं इसके अलौकिक । करतूत सारे ॥ ८९ ॥

भ्रमका यह महा-द्वीप । व्याप्तिका है सुंदर रूप ।
विकार इसके अमाप । सभी प्रकारके ॥ ९० ॥

यह है कामकी मांड़वी । मोह-वनकी जो माधवी ।
इसको कहते हैं " दैवी– । माया " है यह ॥ ९१ ॥

यह है वाङ्मयका विस्तार । नाम-रूप करती साकार ।
प्रपंच जाल जो निरंतर । फैलाती अभंग ॥ ९२ ॥

कलाकी है यही जाया । विद्याको इसने किया ।
इच्छा ज्ञान तथा क्रिया । इसीसे जान ॥ ९३ ॥

यह है नादका टंकसाल । सकल चमत्कारका स्थल ।
अथवा करती सब खेल । अखिल विश्वका ॥ ९४ ॥

उत्पत्ति प्रलय जो पार्थ । इसके सब सायं-प्रात ।
यह सब अति अद्‌भुत । मोहका सारा ॥ ९५ ॥

अद्वयकी दूसरी मूर्ति । मानो निःसंगकी साथी ।
शून्यके घरमें वस्ति । धनंजय ॥ ९६ ॥

उसका है पांडुकुमार । सौभाग्य-व्याप्तिका विस्तार ।
अनावृत पुरुष पर । डालती आवरण ॥ ९७ ॥

सदा है वह निर्विकार । बनती उसके विकार ।
वहां यह सब प्रकार । बनती आप ॥ ९८ ॥

उस स्वयंभूकी है उत्पत्ति । उस अमूर्तकी जो है मूर्ति ।
तथा बनती स्थिति-प्रकृति । स्वयं आप ॥ ९९ ॥

उस अनार्तकी यह आर्त । तथा पूर्णत्वकी यह तृप्त ।
उस अकुलकी जात-गोत । बनती यही ॥ १००० ॥

अवर्णनीयका वर्णन । उस अपारका प्रमाण ।
तथा उस अमनस्कका मन । बुद्धि भी बनती ॥ १ ॥

उस निराकारका आकार । तथा निर्व्यापारका व्यापार ।
निरहंकारका अहंकार । बन बैठती है ॥ २ ॥

उस अनामका नाम । तथा अजन्मका जन्म ।
स्वयं होती यह कर्म- । क्रिया उसकी ॥ ३ ॥

उस निर्गुणके गुण । अ-चरणके चरण ।
अ-श्रवणके श्रवण । अ-चक्षुके चक्षु ॥ ४ ॥

उस भावातीतका है भाव । निरवयवके अवयव ।
अथवा बनती है सर्व । उस पुरुषका ॥ ५ ॥

इस भांति यह प्रकृति । बढाकर अपनी व्याप्ति ।
विकृति जालमें फंसाती । अविकारीको ॥ ६ ॥

वहां जो पुरुषत्व होता । प्रकृति कारण बनता ।
अमावास्यमें रहता । चन्द्रमा जैसे ॥ ७ ॥

जैसे अति-स्वच्छ सुवर्ण । मिलकर जस्तके कण ।
बनता जाता है जो हीन । उसी भांति ॥ ८ ॥

या बनता जैसे सज्जन । पिशाच-संगसे है हीन ।
बादल व्याप्त हो गगन । दुर्दिन करता ॥ ९ ॥

या पय होता पशुके स्तनमें । अथवा अग्नि होता लकडीमें ।
तथा लपेट लिया है वस्त्रमें । नंदादीप ॥ १०१० ॥

जब होता राजा पराधीन । तथा सिंह रोगके आधीन ।
वैसे पुरुषत्व तेज-हीन । होता प्रकृतिमें ॥ ११ ॥

जगता हुवा मनुष्य जैसे । यकायक निद्रित होनेसे ।
स्वप्नमें दुःख भोगता वैसे । यहां वह ॥ १२ ॥

वैसे प्रकृतिके आधीन । भोगता है पुरुष गुण ।
जैसे विरक्त स्त्री-आधीन । उखडता है ॥ १३ ॥

वैसे ही अज नित्यका जो होता । जन्म-मृत्यु सहना पडता ।
प्रकृति-गुण संगसे होता । सभी यह ॥ १४ ॥

किंतु यह जैसे पांडुसुत । तप्त लोहपे होता आघात ।
तब अग्निको होते हैं घात । मानते वैसे ॥ १५ ॥

या आंदोलनसे उदक । प्रतिमा होती है अनेक ।
उसे कहे नानात्व लोक । चंद्रका जैसे ॥ १६ ॥

या पास होनेसे दर्पण । एकके दो दीखते आनन ।
या कुंकुमसे रक्त-वर्ण । आता स्फटिकमें ॥ १७ ॥

गुण संगसे ऐसा होता । अजन्मा है जनम लेता ।
ऐसा वह आभास होता । अन्यथा नहीं ॥ १८ ॥

अधमोत्तम योनि वैसे । मानते हैं इसको ऐसे ।
संन्यासी स्वप्नमें ही जैसे । बनता अंत्यज ॥ १९ ॥

इसीलिये केवल पुरुष । नहीं भोगता है कुछ देख ।
यहां गुण-संग ही अशेष । लगता मूलमें ॥ १०२० ॥

उपद्रष्टानुमंता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः ।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन्पुरुषः परः ॥ २२ ॥

अजी ! यह खड़ा है प्रकृतिमें । आधार-स्तंबसा लता बीचमें ।
अंतर जो है धरणी नभमें । वही इनमें है ॥ २१ ॥

तीरमें प्रकृति सरिताके । खडा मेरु-सा बन करके ।
प्रवाहमें स्थिर है इसके । प्रतिबिंब मात्र ॥ २२ ॥

प्रकृति होती है प्रवाहित । स्थिर रहता यह सतत ।
तभी इसमें होता शासित । ब्रह्मांड सारा ॥ २३ ॥

प्रकृति है इससे ही जीवित । इसकी सत्तासे ही वस्तुजात ।
प्रसवती तभी है यह कांत । होता प्रकृतिका ॥ २४ ॥

अनंत-कालसे अर्जुन । सृष्टि होती यह उत्पन्न ।
तथा होती इसीमें लीन । कल्पांतमें ॥ २५ ॥

तभी है यह प्रकृतिका ईश । ब्रह्मांडका सूत्रधार विशेष ।
इसे तोलता रहता अशेष । पांडुकुमार ॥ २६ ॥

अजी ! सुन इस शरीरमें । परमात्म है ऐसे बोलनेमें ।
आता है जो इसीके विषयमें । जान ले तू ॥ २७ ॥

प्रकृतिके उस पार एक । कोई है कहते सभी देख ।
वह यही परम पूरुष । जान तत्वत: ॥ २८ ॥

य एवं वेत्ति पुरुषं प्रकृतिं च गुणैः सह ।
सर्वथा वर्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते ॥ २३ ॥

सर्व-साक्षी अनु-ज्ञाता भर्ता भोक्ता महेश्वर ।
कहते परमात्मा है देहमें पर- पूरुष ॥ २२ ॥
ऐसा पुरुषका रूप प्रकृतिका गुणात्मक
जानता जो यह ऐसा न कभी जन्मता फिर ॥ २३ ॥

जिसने यह जान लिया वह मुक्त है—

पुरुषका जो शुद्ध-रूप । संपूर्ण जानता है आप ।
प्रकृतिके क्रिया कलाप । गुण हैं सारे ॥ २९ ॥

यह रूप तथा यह छाया । यह जल तथा यह माया ।
करना निर्णय धनंजय । ऐसा सभी ॥ १०३० ॥

इस प्रकारसे अर्जुन । प्रकृति पुरुष विवेचन ।
स्पष्ट करता जिसका मन । सदा सर्वत्र ॥ ३१ ॥

शरीरसे रखके मेल । करता है कर्म सकल ।
रहता नभसा निर्मल । असंग हो ॥ ३२ ॥

देहमें वह ऐसा रहता । देह-मोहसे नहीं भ्रमता ।
देह-पातपे नहीं जन्मता । फिरसे वह ॥ ३३ ॥

होता है जब यह एक । प्रकृति पुरुष विवेक ।
तब करता अलौकिक । महदुपकार ॥ ३४ ॥

यह विवेक-भानुके समान । उजलायेगा अंत:करण ।
उसके उपाय अनेक सुन । कहता हूं मैं ॥ ३५ ॥

ध्यानेनात्मनि पश्यंति केचिदात्मानमात्मना ।
अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे ॥ २४ ॥

आत्मानात्म विवेक-साधनका उपाय—

सुन तू अर्जुन कई एक । विचार-रूपी अग्निमें रख ।
हीन कसका जो सुवर्णक । पुट देकर ॥ ३६ ॥

जलाते सभी सैंतीस । अनात्म-भेद सर्वस ।
चुनते हैं शुद्ध-शेष । आत्म-तत्व ॥ ३७ ॥

अपने हीं हियमें उसे । देखते अपनी दृष्टिसे ।
आप ही सदा अपनेसे । पांडुकुमार ॥ ३८ ॥

ध्यानसे देखता कोई आत्माको हियमें स्वयं ।
सांख्य-योग तथा कोई पाते हैं कर्म-योगसे ॥ २४ ॥

और कुछ दैव-योगसे । चित्त देते सांख्य-योगसे ।
और कुछ कर्माचरणसे । देखते वह तत्व ॥ ३९ ॥

अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वान्येभ्य उपासते ।
तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः ॥ २५ ॥

ऐसे सुन पांडुकुमार । तर जाते भव-भंवर ।
पाके कुछ अन्य प्रकार । भली भांतिसे ॥ १०४० ॥

तब वह ऐसा करते । अभिमान सभी तजते ।
गुरुपे विश्वास रखते । पूर्ण-रूपसे ॥ ४१ ॥

हित अहित सब देखते । हानि देख दयासे भरते ।
जानकर दुःख भी हरते । तथा देते हैं सुख ॥ ४२ ॥

उनके मुखसे जो शब्द निकलते । सब वे अति-आदरसे सुनते ।
तथा तन मनसे वैसे ही बनते । पांडुकुमार ॥ ४३ ॥

सुननेके लिये ही केवल । करते हैं कर्तव्य सकल ।
शब्द पर निष्ठासे अचल । होते निछावर ॥ ४४ ॥

सुन तू यह धनंजय । मरणार्णवसे निर्भय ।
निकलते हो अमृतमय । भली भांति ॥ ४५ ॥

जाननेके हैं अनेक । उपाय यहां हैं देख ।
उससे जानना एक । परम तत्व ॥ ४६ ॥

कोई भाग्यवान ही विश्वकी विविधतामें एकता देख सकता है—

अब हुवा यह बहुत । किंतु सर्वार्थका मथित ।
सिद्धांत तत्व-नवनीत । देता हूं तुझे ॥ ४७ ॥

स्वयं न जानके कोई बडोंसे सुनके सब ।
तरते मृत्युको वे भी श्रद्धासे कर वर्तन ॥ २५ ॥

इससे होगा सहज । अनुभव तुझे आज ।
यह होने पर तुझ । न होगा सायास ॥ ४८ ॥

इसीलिये शुद्ध-प्रज्ञासे कर । सिद्धांतकी रचना सुंदर ।
पाखंडकी पूरी खंडना कर । कहता फलितार्थ ॥ ४९ ॥

यावत्संजायते किंचित्सत्त्वं स्थावरजङ्गमम् ।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात्तद्विद्धि भरतर्षभ ॥ २६ ॥

क्षेत्रज्ञ क्या यह समझाया । अपना रूप तुझे दिखाया ।
तथा क्षेत्र भी सब समझाया । संपूर्ण रूपसे ॥ १०५० ॥

क्षेत्र-क्षेत्रज्ञका यह मिलन । करता भूत-मात्रको उत्पन्न ।
जैसे सलिल अनिल मिलन । रचते तरंग ॥ ५१ ॥

अथवा जब दिनकरके किरण । करते ऊसर भूमिका आलिंगन ।
होता है मृगजल-पूर-सा दर्शन । धनंजय ॥ ५२ ॥

अथवा वर्षाकी धारासे । भीगी हुयी धरणीमेंसे ।
अंकुर नाना प्रकारसे । निकलते अनेक ॥ ५३ ॥

वैसे चराचर संपूर्ण । जीव-जगतका निर्माण ।
करता उभय मिलन । क्षेत्र-क्षेत्रज्ञका ॥ ५४ ॥

इसीलिये हे अर्जुन । क्षेत्र-क्षेत्रज्ञसे भिन्न ।
नहीं है कोई जान । साकार वस्तु ॥ ५५ ॥

समं सर्वेषुभूतेषु तिष्ठंतं परमेश्वरम् ।
विनश्यत्स्वविनश्यंतं यः पश्यति स पयशति ॥ २७ ॥

विश्वमें उत्पन्न जो जो होते स्थावर जंगम ।
क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ संयोग यही कारण जान तू ॥ २६ ॥

समान सब भूतोंमें रहा है परमेश्वर ।
अनाशी नाशवंतोंमें जो देखे वह देखता ॥ २७ ॥

जैसे पटत्व नहीं है तंतु । किंतु पटका आधार तंतु ।
यह प्रज्ञा-दृष्टिसे जान तू । ऐक्य भाव ॥ ५६ ॥

सब भूतोंका आधार । एक ही है तत्व-सार ।
दीखते भिन्न आकार । देखनेमें ॥ ५७ ॥

इनके नाम अनेक । व्यवहार भी अनेक ।
तथा रूप भी अनेक । दीखते हैं ॥ ५८ ॥

देख कर यह अर्जुन । करेगा द्वैत-भाव मन ।
मुक्त होना अवश्य जान । जन्म-मरणसे ॥ ५९ ॥

जैसे अनेक कारणसे । लगते नाना आकारसे ।
लतामें अगणित जैसे । फल कुमडेके ॥ १०६० ॥

अथवा बेरकी जो लकडी । सरल हो अथवा हो टेडी ।
वस्तु एक है खडी या पडी । वैसे वह तत्व ॥ ६१ ॥

जैसे अग्नि कण अनेक । उसकी दाहकता एक ।
वैसे जीव-राशि अनेक । एक परतत्व ॥ ६२ ॥

वर्षाधार गगन भर । उसमें एक ही है नीर ।
वैसे है नाना भूताकार । सबमें ईश एक ॥ ६३ ॥

भूतग्राम सब विषम । सबमें वस्तु एक सम ।
घर घरमें होता व्योम । एकसा जैसे ॥ ६४ ॥

नाश होने पर भूताभास । आत्मा होता एक अविनाश ।
जैसे अलंकार है विशेष । उसमें एक स्वर्ण ॥ ६५ ॥

जैसे जीव-धर्म हीन । तथा जीवसे अभिन्न ।
देखता जो सु-नयन । ज्ञानियोंमें ॥ ६६ ॥

ज्ञान-दृष्टिमें अर्जुन । होता है जो सु-नयन ।
वही बडा भाग्यवान । नहीं यह बढा ॥ ६७ ॥

समं पश्यन्हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम् ।
न हिनस्त्यात्मनात्मानं ततो याति परां गतिम् ॥ २८ ॥

गुणेंद्रियोंकी जो धोकटी । देह-धातुओंकी त्रिपुटी ।
पंच मेलकी यह पटी । दारुण है सब ॥ ६८ ॥

पांच डंकोंका है यह वृश्चिक । अथवा पंचाग्नि ताप-दायक ।
अथवा मृगकी मांद है एक । मिली वन-राजको ॥ ६९ ॥

शरीरमें रहकर ऐसे । नित्य-भावकी तलवारसे ।
अनित्यताका उदर कैसे । नहीं फाडता ॥ १०७० ॥

ज्ञानीका गंतव्य, जहां मोक्ष भी विश्रांति लेता है—

किंतु इस देहमें रहकर । न करता अपने प्रहार ।
तथा अवसानपे धनुर्धर । मिलता मुझमें ॥ ७१ ॥

अनेक जन्मेंको पार कर । योग-ज्ञानका सहारा लेकर ।
योगी जन डुबकी लगाकर । बैठते यहां ॥ ७२ ॥

आकारका जो पैल तीर । नादका जो उस पार ।
तुर्यावस्थाका मध्य घर । पर-ब्रह्म जो ॥ ७३ ॥

मोक्ष सह सभी गति । लेती है यहां विश्रांति ।
गंगादि नदीकी गति । जैसे समुद्र ॥ ७४ ॥

वह सुख इसी देहमें । मिलता है विपुलतामें ।
न होती भूत-वैषम्यमें । विषय-बुध्दि ॥ ७५ ॥

सभी दीप-ज्योतिमें जैसे । रहता तेज एक जैसे ।
रहता है सर्वत्र वैसे । ईश एक ॥ ७६ ॥

ऐसी सम-दृष्टिसे पार्था । सदा सर्वत्र जो देखता ।
कभी आधीन नहीं होता । जन्म मरणके ॥ ७७ ॥

जो देखे प्रभु सर्वत्र भरा है सम जो स्वयं ।
आत्माकी न करे हिंसा पाता है गति उत्तम ॥ २८ ॥

इसीलिये वह भाग्यवान । ऐसे करते हम वर्णन ।
साम्य-सेज पर है नयन । लगे हैं उसके ॥ ७८ ॥

प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः
यःपश्यति तथात्मानमकर्तारं सपश्यति ॥ २९ ॥

मन बुद्धि जिसमें प्रमुख । ज्ञान औ' कर्मेंद्रिय अशेष ।
करती है जो प्रकृति देख । जानता वह सत्व ॥ ७९ ॥

गृह-निवासी सभी करता । घर कुछ भी नहीं करता ।
बादल आकाशमें दौडता । आकाश रहता स्थिर ॥ १०८० ॥

वैसी ही प्रकृति आत्म-प्रभा । गुण-क्रीडासे विविधारंभ ।
आत्मा रहता है जैसे स्तंभ । यह न जानते ॥ ८१ ॥

ऐसा जो यह निर्णय । जिसमें हुवा उदय ।
उसने जाना निश्चय । अकर्तापन ॥ ८२ ॥

यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति ।
तत एव च विस्तारं ब्रह्म संपद्यते तदा ॥ ३० ॥

वैसे सहज अर्जुन । होगा ब्रह्मत्व संपन्न ।
भूताकृति है जो भिन्न । दीखेगी एकमें ॥ ८३ ॥

लहर जैसे सलील पर । परमाणु-कण स्थल पर ।
किरण-जाल आकाश पर । भास्करका ॥ ८४ ॥

या देहमें अवयव । मनमें संपूर्ण भाव ।
विस्फुलिंग सावयव । एक अग्निके ॥ ८५ ॥

करनेसे प्रकृतीके होते हैं कर्म जो सब ।
अकर्ता है स्वयं आत्मा यथार्थ यह देखना ॥ २९ ॥
जुदा एकत्वमें देखे भूतोंकी भिन्नता सब ।
उसीसे जान विस्तार पाता ब्रह्मत्व है तभी ॥ ३० ॥

वैसे एकके भूताकार । दृष्टिगत होंगे साकार ।
ब्रह्म-संपत्ति भांडार। लगेगा हाथ ॥ ८६ ॥

सर्वत्र तब तुझे अर्जुन। होगा पर-ब्रह्मका दर्शन ।
तथा अभयादि समाधान । मिलेगा तब ॥ ८७ ॥

इस भांति यह जो पार्थ । प्रकृति-पुरुष व्यवस्था ।
करलें प्रतीति सतत । चाहे वैसे वे ॥ ८८ ॥

अब तू कर वह प्रतीति । चितमें स्थिरकर निश्चिति ।
अब नहीं तो सुभद्रापति । तो नंतर कुछ ॥ ८९ ॥

मिला है कुल्ला करने अमृत । अथवा भांडार हुवा लक्षित ।
ऐसा मिला यह लाभ निश्चित । ज्ञान-रहस्य ॥ १०९० ॥

कहूंगा अब दो बोल । अति-गूढ अनमोल ।
चित्त देकर सकल । सुन तू वे ॥ ९१ ॥

श्रीकृष्णका यह बोल । सुनता पार्थ निश्चल ।
इंद्रियां तब केवल । करके कान ॥ ९२ ॥

अनादित्वान्निर्गुणत्वात्परमात्मायमव्ययः ।
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते ॥ ३१ ॥

आत्मा और शरीरकी तुलना तथा संबंध—

अजी ! परमात्मा जो कहलाता । जलमें बिंबित हो न भीगता ।
जैसा सूर्य वैसा वह रहता । प्रकृतिमें निर्लेप ॥ ९३ ॥

जलके आदि और अंत । रहता है सूर्य सतत ।
केवल है वह बिंबित । अन्योंकी दृष्टिसे ॥ ९४ ॥

आत्मा वैसे देहमें होता कहां । रहता है वह जहांका तहां ।
कहा जाता है देहमें रहता वहां । नहीं है सत्य ॥ ९५ ॥

अव्ययी परमात्मा है तथा अनादि निर्गुण ।
देहमें रहके पार्थ करता लीपता नहीं ॥ ३१ ॥

दर्पणमें मुख जैसे । बिंबित है यह वैसे ।
रहता देहमें वैसे । आत्म-तत्व ॥ ९६ ॥

संबंध जो देह-आत्मका । सर्वथा निर्जीव बातका ।
होता क्या बात औ' रेतिका । संबंध पार्थ ॥ ९७ ॥

आग तथा पंखमें जैसे । नत्थी करना कहो कैसे ।
या पत्थरको आकाशसे । कैसे जोडना ॥ ९८ ॥

एक जाता पूर्वकी ओर । दूसरा पश्चिमकी ओर ।
भेंट होती कैसी आखर । दोनोंकी पार्थ ॥ ९९ ॥

प्रकाश और अंधार । निर्जीव सजीव नर ।
तथा आत्मा औ' शरीर । एक समान ॥ ११०० ॥

रात्र और दिवस । कनक औ' कर्पास ।
नाता कैसा है वैसा । इन दोनोंका ॥ १ ॥

देह यह है पांचोंका जाल । गुण-कर्मकी गांठ केवल ।
जन्म-मृत्यु चक्र पर डाल । घुमाई जाती है ॥ २ ॥

कुंडमें जैसे कालानलके । गोले पडे हैं नवनीतके ।
हिलनेमें ही पांव माखिके । जाते पिघल ॥ ३ ॥

पडनेसे यह आगमें । भस्म हो उडता क्षणमें ।
जानेसे श्वान उदरमें । होता है मल ॥ ४ ॥

इन दोनोंसे यदि चूकता । कृमियोंका पुंज बनता ।
इसका परिणाम है पार्थ । कल्मष ही है ॥ ५ ॥

इस देहकी यह दशा । तथा आत्मा है वह ऐसा ।
नित्य-शुद्ध-सिद्ध एकसा । अनादित्वसे ॥ ६ ॥

सकल नहीं है या यह निश्कल । न अक्रिय या यह क्रिया-शील ।
नहीं यह कृश अथवा स्थूल । निर्गुणत्वसे ॥ ७ ॥

आभास नहीं या निराभास । प्रकाश नहीं या अप्रकाश ।
न अल्प अथवा बहुवस । अरूपतासे ॥ ८ ॥

जो न रीता या भरित । न रहित या सहित ।
मूर्त नहीं या अमूर्त । शून्यत्वसे ॥ ९ ॥

जो न आनंद या निरानंद । न है एक अथवा विविध ।
न है जो मुक्त अथवा बद्ध । आत्मत्वसे ॥ ११० ॥

न वह इतना या उतना । न स्वत सिद्ध या न है बना ।
न है वक्ता अथवा मौन । अलक्षत्वसे ॥ ११ ॥

सृष्टि-साथ यह नहीं बनता । या प्रलयके साथ न नाशता ।
होने न होनेसे परे रहता । लय स्थान जो ॥ १२ ॥

अगणित अथवा अचर्चित । मिटता न होता बुध्दिगत ।
न घटता न होता विकृत । अव्यवत्वसे ॥ १३ ॥

इस भांति है यह आत्मा । देहमें कहते प्रियोत्तम ।
भवाकाशमें जैसे व्योम । नाम जिसका ॥ १४ ॥

ऐसे उस अखंड पर । बनते देहके आकार ।
वह न ले या तजकर । रहता सहज ॥ १५ ॥

आत्मा शरीरमें रहकर भी न कुछ करता न लीपता—

जैसे प्रकाश और अंधकार । आते जाते आकाशपर ।
शरीर है आत्म-तत्व पर । इसी भांति ॥ १६ ॥

इस देहमें न कुछ करता । अथवा वह न कुछ कराता ।
सहज व्यापारमें न गूंथता । कर्ता पनसे ॥ १७ ॥

इसीलिये वह स्वरूपसे । अल्पता अथवा पूर्णतासे ।
न लीपता है कभी देहसे । देहमें भी ॥ १८ ॥

यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते ।
सर्वत्रावस्थितो देहे तथात्मा नोपलिप्यते ॥ ३२ ॥

आकाश ज्यों सर्व-व्यापी न लीपे सूक्ष्म होकर ।
व्याप्त सर्वत्र त्यों आत्मा देहमें लीपता नहीं ॥ ३२ ॥

यह आकाश नहीं कहां। कब वह न घुसता कहां।
सर्वत्र रहता जहां तहां । किंतु निर्लिप्त ॥ १९ ॥

वैसा सदैव वह शरीरगत। रहता है आत्मा सर्वत्र सतत।
किंतु नहीं होता वह कभी लिप्त । क्षेत्र दोषसे ॥ ११२० ॥

लक्षण यह पुनः पुन । जानना सदा सत्य मान।
सर्वगत क्षेत्र-विहीन। क्षेत्रज्ञका तू ॥ २१ ॥

यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः ।
क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत ॥ ३३ ॥

लोहेको चुंबक हिलात । लोहा चुंबक नहीं होता।
क्षेत्र क्षेत्रज्ञका होता । इस भांतिसे ॥ २२ ॥

दीप-ज्योति निरंतर । चलाती घरका व्यापार।
इन दोनोंका है अंतर । अमर्याद ॥ २३ ॥

काठमें रहती है आग । किंतु काठ न होता आग।
ऐसे दोनों होते अलग । देह और आत्मा ॥ २४ ॥

आकाश और बादल । सूर्य तथा मृगजल।
ऐसा भेद तू निश्चल। यदि देखेगा ॥ २५ ॥

जैसा आकाशमें एक । रहता है वह अर्क।
प्रकाशता तीन लोक । नित्य नित्य ॥ २६ ॥

ऐसा क्षेत्रज्ञ है ऐक । क्षेत्र पूर्ण प्रकाशक ।
न यह संदेह-जनक । न प्रक्षेपार्थ भी ॥ २७ ॥

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरं ज्ञानचक्षुषा ।
भूतप्रकृतिमोक्षं च ये विदुर्यांति ते परम् ॥ ३४ ॥

जैसे है एक ही सूर्य उजलाता भुवनत्रय ।
वैसे प्रकाशता क्षेत्र क्षेत्रज्ञ पूर्ण रूपसे ॥ ३३ ॥
क्षेत्रक्षेत्रज्ञका भेद देखते ज्ञान-दृष्टिसे ।
पाते वे मोक्षका धाम भूत-प्रकृति लांघके ॥ ३४ ॥

शब्द-तत्व सारज्ञ । दीखता है जो प्राज्ञ ।
क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ । इनमें भेद ॥ २८ ॥

इन दोनोंका जो अंतर । देखता है वही चतुर ।
वे ज्ञानियोंका महा-द्वार । रहते तित्य ॥ २९ ॥

इसीलिये जो सुमति । जोड़ते शांति-संपत्ति ।
शास्त्रोंकी सदा दुभति । पालते घरमें ॥ ११३० ॥

भोगके आकाश पर । साहस युत संचार ।
करते जो धनुर्धर । इसी आशासे ॥ ३१ ॥

शरीरादि जो समस्त । मानकर तृणवत ।
लेते संत-सेवा व्रत । जीव-भावसे ॥ ३२ ॥

करके ऐसे प्रकार । अनेक सायास कर ।
होते हैं चितमें स्थिर । ज्ञान-भावसे ॥ ३३ ॥

क्षेत्र-क्षेत्रज्ञका जो अंतर । देखते रहते निरंतर ।
करते हैं हम न्योच्छावर । अपना ज्ञान उनपे ॥ ३४ ॥

तथा महा-भूतादिक । प्रभेद लेके अनेक ।
फैली है अवास्तविक । प्रकृति है जो ॥ ३५ ॥

वह शुक-नलिकान्यायसे । न चिपके ही चिपकी वैसे ।
मानता है जो जैसेको वैसे । यह धनुर्धर ॥ ३६ ॥

जैसे माला ही है माल । देखती आंखें निर्मल ।
सर्प-भ्रमको चंचल । दूर करके ॥ ३७ ॥

अथवा शुक्तिको शुक्ति । करता है सही प्रतीति ।
छोडकर रजत-भ्रांति । सहज भावसे ॥ ३८ ॥

आत्म-प्रकृतिकी जो है भिन्नता । उसको हृदयसे जो जानना ।
उसे मैं पर-ब्रह्म ही कहता । पांडुकुमार ॥ ३९ ॥

आकाशसे भी जो महान । अव्यक्तका पैल-तीर मान ।
पाके उसे साम्या-साम्य-भान । नहीं रहता ॥ ११४० ॥

आकार वहां मिटता । जीवत्व सभी घुलता ।
द्वैत-नाम भी खो जाता । वह है अद्वय ॥ ४१ ॥

परम-तत्व वे पार्थ । होते हैं वहां सर्वथा ।
आत्म-अनात्म-व्यवस्था । उसके वे राजहंस ॥ ४२ ॥

तेरहवे अध्यायका उपसंहार—

इस भांति यह संपूर्ण । पांडवको वह श्रीकृष्ण ।
देता ज्ञान हो स-करुण । जीवनका सब ॥ ४३ ॥

एक कलशमें रहता जो जल । दूसरेमें डालते जैसे सकल ।
वैसे श्रीकृष्णने दिया सकल । ज्ञान पार्थको ॥ ४४ ॥

तथा किसको देगा कौन । वह है नर-नारायण ।
फिर अर्जुनको श्रीकृष्ण । कहाता मैं यह ॥ ४५ ॥

रहने दो यह सकल । बिना प्रश्नके बोल ।
अपना सर्वस सकल । दिया श्रीहरिने ॥ ४६ ॥

अगले अध्यायकी भूमिका—

किंतु मनमें वह अर्जुन । अब तक तृप्ति नहीं मान ।
अधिकाधिक इच्छा महान । बढाते रहा ॥ ४७ ॥

स्नेहसे भरी ज्योति । जैसे बढते जाती ।
ऐसे श्रवण-भक्ति । बढी पार्थकी ॥ ४८ ॥

जहां सु-ग्रहिणी उदार । रसज्ञ औ' भोजनहार ।
मिले जब बढता कर । उसी भांति ॥ ४९ ॥

उभर आया श्रीकृष्णका मन । देखकर उल्हसित अर्जुन ।
उमड अया तब प्रवचन । छलकता हुवा ॥ ११५० ॥

सु-वायुसे मेघ उमड़ता । चंद्रमासे सिंधु उमड़ता ।
वक्तृतामें रस भर आता । श्रोताके आदरसे ॥ ५१ ॥

आनंदमय अब संपूर्ण । करेगा जगतको श्रीकृष्ण ।
राजन् ! करें उसको श्रवण । कहता संजय ॥ ५२ ॥

महाभारतमें इस प्रकार । श्रीव्यासने जो प्रतिभा-सागर ।
शांति-कथा गायी है जो अमर । भीष्म-पर्वमें ॥ ५३ ॥

वह कृष्णार्जुन संवाद । देश-भाषामें मैं विशद ।
कह दिखाऊंगा प्रबंध । ओवी छंदमें ॥ ५४ ॥

केवल वह शांति-कथा । चलेगी शब्दका वाग्पथ ।
पग रख श्रृंगार माथा- । पर अविरल ॥ ५५ ॥

देशीके बोल सुंदर । सजायेंगे अलंकार ।
लजायेंगे जो मधुर । अमृतको यहां ॥ ५६ ॥

उन शब्दोंका जो शांति-गुण । दिखाएगा चंद्रमा है उष्ण ।
करेगा रसना लुबुधन । नादका लोभ ॥ ५७ ॥

इससे पिशाचका भी मन । बनेगा सात्विकताकी खान ।
श्रवण-मात्रसे है सुमन । पायेगा समाधि ॥ ५८ ॥

वाग्विलास विस्तार कर । गीतार्थसे विश्वको भर ।
बांधेंगे विशाल मंदिर । इस जगतका ॥ ५९ ॥

मिटेगी न्यूनता विवेककी । सार्थकता हो कान-मनकी ।
खुलेगी खान ब्रह्म-विद्याकी । चाहे जिसको ॥ ११६० ॥

पर-तत्व देखें नयन । पाये सुख-वसंतोद्यान ।
आकंठ ब्रह्म रस पान । करे विश्व ॥ ६१ ॥

होगा सब यह साकार । ऐसा बोलूंगा मैं सुंदर ।
कृपासे किया है स्वीकार । मेरा श्रीगुरुने ॥ ६२ ॥

स्पष्ट शब्दार्थसे तब ऐसे । उपमादिके अधिकतासे ।
समझाऊं प्रति-पदमेंसे । भावार्थ-सार ॥ ६३ ॥

मेरे गुरुवर श्रीमंत । पूर्ण-बोधसे विद्यावंत ।
किया मुझे हो कृपायुत । श्रीगुरुने ॥ ६४ ॥

अबतक उस कृपासे । निकला जो मेरे मुखसे ।
मान्य हुवा आप सबसे । यहां गीतार्थ ॥ ६५ ॥

फिर आप संत चरण । देते हैं मुझको शरण ।
न रही है इसी कारण । कोई न्यूनता ॥ ६६ ॥

कभी क्या सरस्वतिका मूक । सहज भी होता है बालक ।
तथा न्यूनता क्या सामुद्रिक । महा-लक्ष्मीको ॥ ६७ ॥

ऐसे आप संतोंके पास । अज्ञानका कैसे वास ।
तभी मैं अब नव-रस । वर्षा करुंगा ॥ ६८ ॥

क्या कहूं अब गुरुवर । मुझे दे इक अवसर ।
ज्ञानदेव कहे सुंदर । कहूंगा गीतार्थ ॥ ६९ ॥

गीता श्लोक ३४

ज्ञानेश्वरी ओवी ११६९.

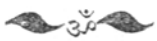

१४

गुणोत्कर्ष-गुण-निस्तारयोग

आचार्य वंदना—

जय जय आचार्य । समस्त गुरुवर्य ।
प्रज्ञा-प्रभात सूर्य । सुखोदय ॥ १ ॥

जय जय सर्व-विश्राम-स्थान । सोऽहं-भाव बोध-दाता महान ।
अनेक लोक-तरंग निदान । महा-समुद्र तू ॥ २ ॥

सुनिये आर्त-बंधू । सदा कारुण्य-सिंधू ।
विशद-विद्या- वधू । वल्लभाजी ॥ ३ ॥

जिनसे तू अदृश्य होता । उनको तू विश्व दिखाता ।
जिनसे तू प्रकट होता । तू ही सर्वस्व ॥ ४ ॥

कोई अन्योंकी दृष्टि चुराता । किंतु अपनेको है दीखता ।
तेरे लाघवकी कौतुकता । आपही अदृष्य ॥ ५ ॥

विश्वका सर्वस्व तू महान । किसे ज्ञान औ' किसे अज्ञान ।
ऐसा सहज लाघव-स्थान । नमन तुझको ॥ ६ ॥

विश्वमें जो सलिल द्रवित । तेरे द्रवसे है प्रवाहित ।
तुझसे ही सहन समर्थ । हुई पृथ्वी ॥ ७ ॥

रवि-चंद्रादि सिक्ता-कण । विश्वको दे प्रकाश-दान ।
तेरी ही दीप्तिके कारण । तेजका तेज तू ॥ ८ ॥

अनिलकी जो हल चल । उसकी नींव तेरा बल ।
गगनका जो चला खेल । तुझमें ही देव ॥ ९ ॥

अथवा जो अन्यथा ज्ञान । उसकी ज्योति आप जान ।
करना आपका वर्णन । श्रुतिको भी असाध्य ॥ १० ॥

जब तक न होता तेरा दर्शन । तब तक ही है वेदका वर्णन ।
दर्शन होने पर होते हैं मौन । हम और वेद ॥ ११ ॥

अजी ! एकार्णव-सिंधू । न जानता एक बिंदु ।
तभी नदी जाने गंध- । उसका कैसे ॥ १२ ॥

या उदय होते ही भास्वत । बन जाता है चंद्र खद्योत ।
वैसे ही हम श्रुति सहित । बनते हैं मौन ॥ १४ ॥

अथवा मिट जाता जहां द्वैत । होता है परा पश्यंतिका अंत ।
तब होगा किस भांति वर्णित । किस भाषासे ॥ १४ ॥

इसीलिए छोड स्तवन । नम्रतासे होकर मौन ।
चरणमें करें नमन । यही भला है ॥ १५ ॥

जैसे हैं वैसे श्री गुरुवर । चरणमें करूं नमस्कार ।
सफल होनेमें दे आधार । ग्रंथ निरूपणमें ॥ १६ ॥

खोलकर अब कृपा-भांडार । मेरी बुध्दिकी झोली भरकर ।
मुझको काव्य-ज्ञान भी देकर । करें कृतार्थ ॥ १७ ॥

तब मैं विवेक-कर्ण-भूषण । चढाऊंगा संतोंको सुलक्षण ।
संभाल कर मैं अपने प्राण । तव प्रसादसे ॥ १८ ॥

गीतार्थका जो विधान । निकालेगा मेरा मन ।
उसे गुरु-कृपांजन । देना स्वामी ॥ १९ ॥

यह शब्द-सृष्टि सकल । दृष्टि देखेगी एक काल ।
वैसे उदय हो निर्मल । गुरु-कारुण्य बिंब ॥ २० ॥

मेरी प्रज्ञा-लतामें विशाल । लगे सरस काव्य-सु-फल ।
वैसे वसंत वन स्नेहल- । शिरोमणि देव ॥ २१ ॥

मति-गंगा-प्रवाह गंभीर । लेकर बहे प्रमेय-पूर ।
ऐसे उदार बरसा कर । मेरे स्वामी ॥ २२ ॥

अजी ! हे विश्वैक धाम । तेरा प्रसाद चंद्रमा ।
करें मुझको पूर्णिमा । उदय होके ॥ २३ ॥

करेंगे आप यदि अवलोकन । उन्मेष-सागरमें नित-नवीन ।
आयेगा रस-वृत्तिमें उफान । स्फूर्तिमय जो ॥ २४ ॥

श्री गुरु तब हो मुदित । तूने किया है स्तवनार्थ ।
विनीत भावसे है द्वैत । बोले ऐसे ॥ २५ ॥

छोड दे यह व्यर्थके बोल । गीतार्थ कह तू अनमोल ।
श्रोताओंकी इच्छा जो निर्मल । न कर व्यर्थ ॥ २६ ॥

अजी ! हां श्रीगुरुदेव । मेरा भी यही था भाव ।
श्रीमुखसे कहे देव । कहो ग्रंथ ॥ २७ ॥

दूर्वांकुरकी मूलिका । अमर जो स्वाभाविक ।
उस पर पीयूषका । आया पूर ॥ २८ ॥

अजी ! श्रीगुरु-प्रसादसे । वर्णूंगा अभी विस्तारसे ।
मूल शास्त्रको चातुर्यसे । आपके समक्ष ॥ २९ ॥

जिससे जीवके अंतर्गत । नांव जो है संशय-भरित ।
डूबकर वह सुनिश्चित । बढेगी श्रवणेच्छा ॥ ३० ॥

वाणीमें उतरे माधुर्य । गुरु-गृहका भिक्षा-चर्य ।
वास्तविक जो है सौंदर्य । गुरु-कृपासे ॥ ३१ ॥

त्रयोदशमें श्रीकृष्ण । बोले हैं यह वचन ।
सुन तू वह अर्जुन । ध्यान देकर ॥ ३२ ॥

क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ संयोगसे । बनता है जगत जैसे ।
औ' होता है गुण-संगसे । आत्मा संसारी ॥ ३३ ॥

तथा यह प्रकृतिगत । सुखदुःख भोगके हित ।
अथवा रहा गुणातीत । होकर केवल ॥ ३४ ॥

हुवा है कैसे असंगको संग । कैसे यह क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-योग ।
अथवा कैसे सुख-दुख भोग । होता है उसे ॥ ३५ ॥

गुण ह कितने औ' कैसे । बांधते है उनको कैसे ।
या वह गुणातीत कैसे । उसके लक्षण क्या ? ॥ ३६ ॥

करने इसका स्पष्टीकरण । इस चतुर्दशका है कथन ।
कहता है सविस्तर श्रीकृष्ण । अर्जुनसे यहां ॥ ३७ ॥

अब यहां यह ऐसा । प्रस्तुत करेगा कैसा ।
साभिप्राय जो विश्वेश । वैकुंठका ॥ ३८ ॥

कहता है वह अर्जुन । अवधानकी सर्व सेना ।
लाकर है अब मिड़ाना । ज्ञानसे यहां ॥ ३९ ॥

कहा तुझे कई प्रकारसे । करके युक्ति-वाद जिससे ।
किंतु तू उस प्रतीतिसे । भरा नहीं ॥ ४० ॥

भगवानुवाच

परं भूयः प्रवक्ष्यामि ज्ञानानां ज्ञानमुत्तमम् ।
यज्ज्ञात्वामुनयः सर्वे परां सिद्धिमितोगताः ॥ १ ॥

इस समयमें अर्जुन । तुझसे कहता हूं सुन ।
कहा है जो महान ज्ञान । श्रुतिने सर्वत्र ॥ ४१ ॥

ज्ञान मनुष्यके हृदयमें ही होता है—

वैसे ज्ञान है रूप अपना । पर उसका है जो फैलना ।
भव स्वर्गादिक जब जाना । इससे हुवा पराया ॥ ४२ ॥

अजी ! केवल इसी कारण । अन्य ज्ञान सब मानो तृण ।
शेष है यह अग्नि समान । कहता हूं मैं ॥ ४३ ॥

भव स्वर्गको जो जानते । यज्ञको ही भला कहते ।
तथा द्वैतको है मानते । भली भांति ॥ ४४ ॥

श्री भगवानने कहा

जो सभी ज्ञानमें श्रेष्ठ ज्ञान मैं कहता तुझे ।
इसको जानके मोक्ष पाये हैं सब ही मुनि ॥ १ ॥

इससे वे सभी ज्ञान । किये हैं स्वप्न–समान ।
वातोर्मियोंको गगन । निगलता जैसे ॥ ४५ ॥

अथवा उदित रश्मि-राज । छिपाता हैं चंद्रादिका तेज ।
अथवा नाना प्रलयांबुज । नदी नदादिको ॥ ४५ ॥

वैसे इसके होते ही उदय । अन्य सभी ज्ञान होते हैं लय ।
इसीलिये कहा है धनंजय । मैंने यह उत्तम ॥ ४७ ॥

अनादिसे जो मुक्त । स्थिति है पांडुसुत ।
होती है हस्तगत । इसी ज्ञानसे ॥ ४८ ॥

अंतर्मुख दृष्टिसे वह ज्ञान प्राप्त होता है—

जिसको कर प्रतीत । विचार-वीर समस्त ।
संसारको हैं सतत । दबाते जो ॥ ४९ ॥

मनसे पीछे हठाके मन । लेता है जहां विश्रांति तन ।
तब अनुभवता तन । तन-भाव ऐसा ॥ ५० ॥

फिर कर वे देह पार । दोनों ही जो एक ही बार ।
वे तोलमें पांडुकुमार । होते मेरे सम ॥ ५१ ॥

इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः ।
सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च ॥ २ ॥

इस ज्ञानसे मेरे समान होते हैं—

जो है मेरी नित्यता । उसीको वह पाता ।
परि-पूर्ण पूर्णता । मेरी उसको ॥ ५२ ॥

जैसे मैं आनंदानंद । सत्य-सिंधु हूं अगाध ।
नहीं है हममें भेद । रहा कोई ॥ ५३ ॥

हुए वे मुझ जैसे ही इसी ज्ञान-प्रतीतिसे ।
आना जाना उन्हे एक वे अभंग सदा सम ॥ २ ॥

क्योंकि मैं हूं जैसा जितना । वह भी है वैसा उतना ।
घट-संगसे है गगन । होता घटाकाश जैसे ॥ ५४ ॥

नहीं हो तो दीप-मूल है एक । उसमें मिली शाखायें अनेक ।
किंतु वास्तवमें है वह एक । इसी प्रकार ॥ ५५ ॥

इसी प्रकार है अर्जुन । द्वैत अनुभवके बिन ।
नामार्थ रूपमें हो लीन । हुए एक ॥ ५६ ॥

यही है जो एक कारण । होती जब सृष्टि निर्माण ।
तब भी है जन्म-धारण । नहीं उसको ॥ ५७ ॥

होती है जब सृष्टि निर्माण । तब न जिसे देह-धारण ।
आया उसको कहां मरण । प्रलय-कालमें ॥ ५८ ॥

इसीलिये जन्म-क्षय । अतीत है वे धनंजय ।
मद्रूप हुये निश्चय । मेरे ज्ञानसे ॥ ५९ ॥

ऐसा जो महत्व ज्ञानका । प्रिय विषय श्रीकृष्णका ।
बढाने रस अर्जुनका । बखानता है ॥ ६० ॥

स्वरूप-विस्मरण ही अज्ञान है—

तब मानो वह अर्जुन । बना लेता सर्वांग कान ।
अथवा होता अवधान- । मूर्ति केवल ॥ ६१ ॥

तब श्रीकृष्णका व्याख्यान । कर सका है आकलन ।
तथा वह हुवा निरूपण । गगनसे विशाल ॥ ६२ ॥

तब कहता है हे प्रज्ञा-कांत । उजली है आज जो वक्तृता
उसके समान ही जो श्रोता । मिला आज ॥ ६४ ॥

अजी ! यदि मैं हूं एक । देह-पाशमें अनेक ।
पकडा जाता हूं देख । गुणोंसे कैसे ॥ ६४ ॥

कैसा क्षेत्रका संग करता । कैसे जगतको मैं प्रसवता ।
इसीको मैं तुझसे कहता । सुन तू अब ॥ ६५ ॥

तभी यह क्षेत्र कहलाता । इसमें मत्संगसे पकता ।
नाना प्राणि लेके विचित्रता । पांडुकुमार ॥ ६६ ॥

मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन्गर्भं दधाम्यहम् ।
संभवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत ॥ ३ ॥

वैसे है यह महद्ब्रह्म । तभी यह इसका नाम ।
महदादिका जो विश्राम- । धाम है यह ॥ ६७ ॥

बढाता है यह बहु विचार । इसीलिये है पांडुकुमार ।
कहते हैं इसे सरासर । महद्ब्रह्म ॥ ६८ ॥

अव्यक्त वादका मत । कहता इसे अव्यक्त ।
सांख्य करते प्रतीत । प्रकृति है यह ॥ ६९ ॥

वेदांति इसको भाया । कहते हैं प्रज्ञा-राया ।
वैसे ही इसे बताया । यह है अज्ञान ॥ ७० ॥

अपनेको है अपना । रहता है विस्मरण ।
यही रूप है अर्जुन । इस अज्ञानका ॥ ७१ ॥

अज्ञानका रूप विवेचन—

इसका होता है एक ऐसा । विचारमें न दीखता जैसा ।
दीपकके प्रकाशमें जैसा । रहता अंधःकार ॥ ७२ ॥

अथवा हिलता है जब क्षीर । न दीखती मलाई किसी ओर ।
किंतु जब होता है दूध स्थिर । तब वह दीखती ॥ ७३ ॥

अथवा न जागृति न स्वप्न । नहीं है स्वरूप अवस्थान ।
अथवा सुषुप्ति है जो घन । वैसी होती ॥ ७४ ॥

जब वायुको न प्रसवता । आकाश बांझ होता है रीता ।
वैसी होती है वह अवस्था । अज्ञानकी ॥ ७५ ॥

प्रकृति क्षेत्र है मेरा देता हू बीज मैं उसे ।
उसमेंसे सभी भूत होते उत्पन्न भारत ॥ ३ ॥

यह खंबा है या मनुष्य । नहीं होता एक निश्चय ।
होता एक भास अवश्य । वैसे ही पार्थ ॥ ७६ ॥

ऐसी वस्तु होती है वैसे । वैसी नहीं दीखती जैसे ।
किंतु विपरीत भी वैसे । नहीं दीखती ॥ ७७ ॥

न होती रात या तेज । वह संधि जैसे सांज ।
वैसे विरुध्द ना निज । है यह अज्ञान-रूप ॥ ७८ ॥

अज्ञानावृत्त प्रकाश ही क्षेत्रज्ञ है—

ऐसी वस्तु होती है एक दशा । उसको कहते अज्ञान ऐसा ।
उससे लपेट लिया प्रकाश । वह है क्षेत्रज्ञ ॥ ७९ ॥

अज्ञानको महत्व देना । अपनेको ही न जानना ।
उसी रूपको है जानना । क्षेत्रज्ञका ही ॥ ८० ॥

यह है दोनोंका संयोग । जान तू इसको चांग ।
यह है सत्ता निसर्ग- । स्वभाव जान ॥ ८१ ॥

आप ही अज्ञानत्वसे । वस्तु दीखती है वैसे ।
किंतु अनेक रूपसे । जानते नहीं ॥ ८२ ॥

जैसा कोई भ्रमता एक । हुवा अब मैं राजा देख ।
या कहे पाया-स्वर्ग लोक । कोई भ्रमिष्ठ ॥ ८३ ॥

जब दृष्टि है हठ जाती । तब जो जो कुछ देखती ।
तभी हुई है कहलाती । सृष्टि प्रसूती मुझसे ॥ ८४ ॥

मनुष्य जैसे स्वप्न मोहमें । अपनेको देख नग्न-रूपमें ।
वैसे आत्म-स्फुरण अभावमें । दीखता सर्व ॥ ८५ ॥

यही मैं दूसरा प्रकार । कहता सुन धनुर्धर ।
स्वप्न-सा मिथ्या मानकर । दृढ अनुभवसे ॥ ८६ ॥

मेरी यह गृहिणी । अनादि है तरुणी ।
अनिर्वचन गुणी । है अविद्या ॥ ८७ ॥

न होना इसका रूप । व्याप्ति है इसकी अमाप ।
निद्रस्तके यह समीप । जगते ही दूर ॥ ८८ ॥

मैं सोता तब यह जगती । ब्रह्मांड उदरमें रखती ।
सत्ता-संभोगसे है बनती । गर्भवती यह ॥ ८९ ॥

प्रकृतिके आठ विकारोंकी सहायतासे अनेक ब्रह्मांड उत्पन्न होते हैं—

इसी महद्ब्रह्मका उदर । प्रकृतिके आठ ही विकार ।
गर्भ अभिवृद्धि धनुर्धर । करता जगद्रूप ॥ ९० ॥

उभय संगसे प्रथम । बुद्धि तत्वका हुवा जन्म ।
रजस वह भरा सम । बनता मन ॥ ९१ ॥

ममता तरुणी तब मनकी । रचना करती अहंकारकी ।
उसने की पंच-महाभूतोंकी । अभिव्यक्ति ॥ ९२ ॥

विषयेंद्रिय जो स्वभावता । रहती भूतोंके अंतर्गत ।
जिससे वे भी भूतोंके साथ । लेते आकार ॥ ९३ ॥

बने हुए विचार-क्षोभसे । पीछे त्रिगुण खडे होनेसे ।
तब जीव वासना गर्भसे । जाता स्थान स्थानपे ॥ ९४ ॥

जैसे बीजका एक कण । पानीसे कर संघटण ।
वृक्षका रूप सुलक्षण । लेता अपनेमें ॥ ९५ ॥

वैसे मेरे ही संग । अविद्या नाना जग ।
नित ले आता उग । अंकुर रूप ॥ ९६ ॥

अजी ! फिर वह गर्भ-गोल । जैसे रूप ले आता सकल ।
वह तू सुन अब निर्मल । चित्त देकर ॥ ९७ ॥

मणिज स्वेदज । उद्बिज जारज ।
उगते सहज । अवयव ॥ ९८ ॥

व्योम वायु-वश । बढा गर्भ-रस ।
मणिज ले खास । अवयव ॥ ९९ ॥

पेटमें सोते तम-रज । उसमें आया आप-तेज
उससे सहज स्वेदज । उत्पन्न होते ॥ १०० ॥

आप पृथ्वी उत्कट । तम-मात्र निकृष्ट ।
स्थिर होता प्रकट । उद्‌बीज रूप ॥ १ ॥

पांच ही जब एकत्र होते । मन-बुध्दि साथ पाते ।
जारजका हेतु बनते । तब ये पार्थ ॥ २ ॥

ब्रह्मांडका पूर्ण रूप--

ऐसे ये चार सरल । कर चरण तल ।
महा-प्रकृति मूल । बनता शिर ॥ ३ ॥

प्रवृत्ति उसका पेट । निवृत्ति सरल पीट ।
सुर-योनि अंग आठ । उर्ध्व भागके ॥ ४ ॥

कंठ उल्हसित स्वर्ग । मृत्यु-लोक मध्य-अंग ।
पाताल है अधो-भाग । त्रिलोकका ॥ ५ ॥

ऐसा बालक एक । जन्म दिया है देख ।
जिसके तीनों लोक । है विकास ॥ ६ ॥

चौरासी लक्ष जो योनी । इसके जोडोंके मणी ।
बढता है क्षण-क्षण । यह बालक ॥ ७ ॥

शरीरके सभी अंग पर । डालती नामके अलंकार ।
बढाती मोह-स्तन्य देकर । नित्य-नवीन ॥ ८ ॥

नाना सृष्टि इस बालककी । उंगलियां कर-चरणकी ।
भिन्नाभिमान उंगुलियोंकी । सुंदरियां अनेक ॥ ९ ॥

इकलौता यह चराचर । अविचारित अति सुंदर ।
बालकको जो जन्म-देकर । बनी महान ॥ ११० ॥

ब्रह्मा इसका प्रातःकाल । विष्णु रहा मध्यान्ह काल ।
सदाशिव है सायंकाल । इस बालकका ॥ ११ ॥

महा-प्रलय शैय्यापर सोता । जब यह खेल करके आता।
कल्पोदयमें यह है उठता । विषम-ज्ञानसे ॥ १२ ॥

इस प्रकार अर्जुन । मिथ्या दृष्टिका सदन ।
युगानुवृत्ति चरण । रखता स-कौतुक ॥ १३ ॥

संकल्प है इसका इष्ट । अहंकार साथी विनट ।
इसका अंत है निकट । आता ज्ञानसे ॥ १४ ॥

रहने दो बखान बहुत । यह विश्व है मायासे जात।
मेरी सत्ता है आधारभूत । इस कार्यमें ॥ १५ ॥

सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः संभवन्ति याः।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता ॥ ४ ॥

इस दृश्यमान विश्वमें भी मैं ओतप्रोत भरा हूं—

इसीलिये मैं पिता । महद्ब्रह्म है माता ।
आपत्य पांडुसुता । जगडंबर ॥ १६ ॥

शरीर है सो अब बहुत । देखके चित्तमें न हो द्वैत।
मन बुध्दि आदि जो हैं भूत । एक ही यहां ॥ १७ ॥

जैसे शरीरमें एक । अवयव होते अनेक ।
कैसे विचित्र विश्व देख । एक ही यहां ॥ १८ ॥

ऊंची नीची विविध प्रकार । होती डालियां विविध आकार ।
होता है उसका जों आधार । बीज एक ॥ १९ ॥

संबंध है वह भी कैसा । घट माटीका पुत्र जैसा ।
या कपासका पुत्र जैसा । वस्त्रत्व होता है ॥ १२० ॥

अनेक लहरोंकी परंपरा । सिंधु-संतति जिस प्रकार ।
सब चराचरका औ' हमारा । संबंध भी ऐसा ॥ २१ ॥

किसी भी योनिमें मूर्ति जन्मती है कहीं कभी ।
उन्हे प्रकृति है माता पिता मैं बीज रोपता ॥ ४ ॥

तभी है अग्नि और ज्वाल । दोनों ही हैं अग्नि केवल ।
उसी भांति मेरा है सकल । संबंध वैसा ॥ २२ ॥

निर्मित जगसे यदि मैं छिपता । तब जगत्वसे है कौन दीखता ।
मानव-तेजसे क्या छिपता । कभी माणिक्य ॥ २३ ॥

जब अलंकारका रूप लिया । तब क्या उसका स्वर्णत्व गया ।
या मानो कमल खिल गया । मिटा क्या कमलत्व ॥ २४ ॥

अभी कह यह तू पार्थ । अवयवसे आच्छादित ।
या उसीसे है प्रकटित । अवयवी यहां ॥ २५ ॥

अदिमें बोया गया एक दाना । बढ़कर होता है बहुगुना ।
या व्यर्थ गया है वह अर्जुन । उसी प्रकार ॥ २६ ॥

तभी विश्वके उस पार । देखना पट कर दूर ।
तब सर्वत्र धनुर्धर । केवल मैं हूं ॥ २७ ॥

तू यह साक्षात्कार । सदा हृदयमें भर ।
दृढ़तासे तू आदर । जीवनमें इसे ॥ २८ ॥

जब मैं मुझमें प्रकाशता । देहमें भिन्न दीखता ।
तब मैं गुणोंसे बंधा जाता । दीखता ऐसे ॥ २९ ॥

स्वप्नमें आप ही कल्पनासे । आत्म-मरण जगाते वैसे ।
तथा आप ही भोगते जैसे । पांडुकुमार ॥ १३० ॥

कामलमें जैसे नयन । करके पीला प्रकाशन ।
देते हैं कामलका ज्ञान । उनको ही ॥ ३१ ॥

अथवा सूर्यका प्रकाश । कराता बादलका भास ।
लोपसे देता है प्रकाश । सूर्य ही तब ॥ ३२ ॥

आनेसे ही जन्म जिसका । छाया होती कारण भयका ।
किंतु अपनेसे है छायाका । सदा अभिन्नत्व ॥ ३३ ॥

वैसे करके प्रकाशन । अनेक देहमें समान ।
दिखाता गुणका बंधन । वह मैं ही ॥ ३४ ॥

बंध क्यों नहीं बांधता । मुझे मैं सही जानता ।
अज्ञान कारण होता । बंधका वहां ॥ ३५ ॥
मुझको ये बंधन ऐसे । किन गुणसे दीखे वैसे ।
कहता हूं शांत चित्तसे । सुन तू इसको ॥ ३६ ॥

सत्व रज तम इन तीन गुणोंके कारण पुनर्जन्म होता है—

कितने गुण है या धर्म । उसका क्या रूप औ' नाम ।
कहां हुए इसका मर्म । कहता हूं सुन ॥ ३७ ॥

सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसंभवाः ।
निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम् ॥ ५ ॥

सुन सत्व रज तम । यहां तीनोंके ये नाम ।
तथा प्रकृतिसे जन्म । पाते हैं ये ॥ ३८ ॥

यहां है सत्व उत्तम । तथा रज है मध्यम ।
तीनोंमें है यह तम । कनिष्ट सहज ॥ ३९ ॥

जैसे एक ही शरीरमें तीन । अवस्थायें होती हैं भासमान ।
एक अंतःकरणमें त्रिगुण । होते हैं भास ॥ १४० ॥

जैसे जैसे कस-हीन । होता सोनेमें मिलन ।
बढ़ स्वर्णका वजन । होता अवमूल्य ॥ ४१ ॥

सावधानता जैसे जैसे । दूर होती है आलससे ।
जकडती है निद्रा वैसे । दृढ मूल हो ॥ ४२ ॥

अज्ञान अंगीकार कर । उठती है वृत्ति ऊपर ।
वह है सत्व रज द्वारा । तममें भी जाती ॥ ४३ ॥

यह तू जान अर्जुन । इनका नाम है गुण ।
अब करना दर्शन । बद्धताका ॥ ४४ ॥

प्रकृतिसे बने हैं ये गुण सत्व रजस्तम ।
वे निर्विकार आत्माको जोतते मान देहमें ॥ ५ ॥

जब क्षेत्रज्ञ-दशा । आत्मा छू लेता जैसा ।
यह देह मैं ऐसा । कहने लगता ॥ ४५ ॥

जन्मसे मरण पर्यंत । देहके धर्ममें समस्त ।
यह जो ममत्वका है सूत । पिरोता है ॥ ४६ ॥

मीनके मुखमें जैसे । अमिष पहुंचनेसे ।
झटका देता कांटेसे । जल पारधी ॥ ४७ ॥

तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात्प्रकाशकमनामयम् ।
सुखसंगेन बध्नाति ज्ञानसंगेन चानघ ॥ ६ ॥

गुणोंके लक्षण, सत्व गुण—

तभी है जो लुब्धक । सुख-ज्ञानका पाश फेंक ।
खींचता है मृग-शावक । सुख-ज्ञानमें ॥ ४८ ॥

ज्ञानसे फिर तडपता । विद्वत्ताके पैर झाडता ।
आत्म-सुखको है गंवाता । अपने ही हाथसे ॥ ४९ ॥

विद्या-मानसे तब तोषता । किसी लाभ-मात्रसे हर्षाता ।
स्व-संतोषमें धन्य मानता । अपने आप ॥ १५० ॥

कहता भाग्य है मेरा । नहीं है ऐसा दूसरा ।
विकाराष्टकसे भरा । फूलता वह ॥ ५१ ॥

मानो इतना नहीं पूरा । बंधन लगे दूसरा ।
विद्वत्ताका भूत संचार । चढता सिरपे ॥ ५२ ॥

मैं हूं स्वयं ज्ञान-स्वरूप । खोनेका दुःख ना अमाप ।
विषय-ज्ञान-लीन आप । चढा गगन ॥ ५३ ॥

जैसे राजा स्वप्नमें । रंक बन भिक्षामें ।
दाना पाके सुखमें । मानता इंद्र ॥ ५४ ॥

इनमें शुचि जो सत्व ज्ञान आरोग्य दायक ।
सुखी मैं और मैं ज्ञानी इससे बांधता नित ॥ ६ ॥

वैसे वह देहातीत । बनकर देहवंत ।
वहलता पांडुसुत । बाह्य-ज्ञानसे ॥ ५५ ॥

प्रवृत्ति-शास्त्र सूझता । यज्ञ-ज्ञान बूझता ।
स्वर्ग भी है दीखता । और क्या रहा ॥ ५६ ॥

मैं हूं महा-ज्ञानवान । मुझसे नहीं विद्वान ।
मेरा चित्त है गगन । या सूर्य चंद्रका ॥ ५७ ॥

ऐसे ही सत्व-सुख-ज्ञानका । जीवमें लगे बागडोरका ।
बलसे देता जाता झटका । जुते हुये बैलकासा ॥ ५८ ॥

ऐसे ही यह रजो गुणसे । शरीरमें बंधा जाता कैसे ।
कहता हूं मैं तू सुन इसे । पांडुकुमार ॥ ५९ ॥

रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासङ्गसमुद्भवम् ।
तन्निबध्नाति कौन्तेय कर्मसंगेन देहिनम् ॥ ७ ॥

रजोगुणके लक्षण—

तभी यह रज कहलाता । जीवनका रंजन जानता ।
यौवन नित बना रहता । अभिलाषाका ॥ १६० ॥

रजका जब स्पर्श होता । जीव काम-मदमें आता ।
हवा पर सवार होता । चिंतनके यह ॥ ६१ ॥

अग्नि-कुंडमें घृत सिंचन किया । विद्युताग्निने उसका साथ दिया ।
कहो अधिक कम क्या रह गया । कहेंगे तब ॥ ६२ ॥

इच्छा दाह तब भडकता । क्लेश-सह मधुर लगता ।
इंद्रैश्वर्य भी ओछा लगता । ऐसे समय ॥ ६३ ॥

इच्छा दाह अब बढता । मेरु भी हाथमें लगता ।
फिर भी वह है चाहता । और भी बडा ॥ ६४ ॥

रज है वासना-रूप तृष्णा आसक्ति-वर्धक ।
आत्माको कर्मके साथ बांधता बल-पूर्वक ॥ ७ ॥

खर्च किया आज ऐसा । कलका चलेगा कैसा ।
इससे बहु बडा-सा । करेगा उद्यम ॥ ६५ ॥

कबडी पर जीवन । दे करके बलिदान ।
कमाकर एक तृण । मानता धन्य ॥ ६६ ॥

कहता स्वर्गपे जाना । सोचता कहां क्या खाना ।
यज्ञानुष्ठान करना । इसीलिये ॥ ६७ ॥

सदा व्रत पर व्रत । करता इष्ट प्राप्त्यर्थ ।
कभी कामना रहित । न करता कुछ ॥ ६८ ॥

जैसा है ग्रीष्मका पवन । न ही जानता शांति-क्षण ।
रहता वह निशिदिन । ऊधमग्रस्त ॥ ६९ ॥

होता है चंचल मीन । या कामिनी कटाक्ष समान ।
या बिजलीकी गति मान । रहता प्रवृत्तिमें ॥ १७० ॥

चाहता इसी वेगसे । संसार स्वर्ग भी वैसे ।
क्रियाकी आगमें वैसे । घुसता वह ॥ ७१ ॥

देहमें या देहसे भिन्न । तृष्णा श्रंखलाके बंधन ।
सदा उपद्व्याप विभिन्न । गलेमें व्यापारके ॥ ७२ ॥

रजो गुणका यह दारुण । देहमें देहीके है बंधन ।
सुन तू अब कथा अर्जुन । तमो गुणकी ॥ ७३ ॥

तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम् ।
प्रमादालस्यनिद्राभिस्तन्निबध्नाति भारत ॥ ८ ॥

तमोगुणके लक्षण—

व्यवहारके जो नयन । बंद होते जिससे जान ।
मोह-रात्रीके हैं जो घन । काले अतिशय ॥ ७४ ॥

मोहता तम देहीको अज्ञानको बढाकर ।
निद्रा प्रमाद आलस्य इससे घेर बांधता ॥ ८ ॥

उसकी प्रीति अज्ञानसे । केवल इसी कारणसे ।
भ्रमग्रस्त होकर जैसे । नाचता जीव ॥ ७५ ॥

अविवेक महा-मंत्र । मूढता मद्य-पात्र ।
इसका है मोहनास्त्र । जीवोंके लिये ॥ ७६ ॥

अर्जुन यह है तम । इसका है यह मर्म ।
बांधता देह ही आत्म । इस अज्ञानसे ॥ ७७ ॥

ऐसा ही है सब शरीर । मानता सब चराचर ।
तम बिन अन्य विचार । नहीं है जान ॥ ७८ ॥

सब इंद्रियोंमें जाड्य । मनमें भरा है मौढ्य ।
दोनोंमें हुवा है धार्ढ्य । आलस्यका ॥ ७९ ॥

अंगांग मोडता रहता । किसी काममें नहीं आता ।
उबासियां लेता रहता । प्रति क्षण ॥ १८० ॥

खुले रख भी नयन । नहीं देखता अर्जुन ।
कोई बात भी न सुन । जी ! कह उठता ॥ ८१ ॥

पत्थरसा पडा ही रहता । हिलनेकी बात न करता ।
सदा कुंडली मार बैठता । उठता नहीं ॥ ८२ ॥

धरणी धंसती है पाताल । गगन गिरता धरातल ।
किंतु उठना भी है केवल । उसको नहीं भाता ॥ ८३ ॥

यह उचित या अनुचित । प्रश्न नहीं करता है चित्त ।
पडा रहना मात्र सतत । जानती बुद्धि ॥ ८४ ॥

उठाके अपने करतल । उससे पकडकर गाल ।
घुटनोंमें सिकुड सकल । बैठा रहता ॥ ८५ ॥

सोनेमें करता है मन । नींदको स्वर्ग सुख मान ।
अन्य सब तुच्छ अर्जुन । कहता आप ॥ ८६ ॥

करके ब्रह्मायु प्राप्त । सोया रहता सतत ।
दूसरी कुछ भी बात । नहीं मनमें ॥ ८७ ॥

राह चलते भी यदि गिरता । वहींपे खुर्राटे भरता ।
अमृत मिला तो भी नहीं पीता । जब आती नींद ॥ ८८ ॥

वैसे भी कभी आक्रोशावेशमें । निकले कभी किसी व्यापारमें ।
निकलता जैसे अंधा क्रोधमें । उसी भांति ॥ ८९ ॥

कब कैसे बरतना । किससे कैसे बोलना ।
साध्य असाध्यका ज्ञान । न होता उसे ॥ १९० ॥

संपूर्ण अग्नि-तेज जैसे । पोंछने अपने पंखसे ।
उड़ता है पतंग वैसे । पांडुकुमार ॥ ९१ ॥

ऐसे ही काम उसे रुचता । जो न करना वही है भाता ।
ऐसे वह करता रहता । प्रमाद-साहस ॥ ९२ ॥

एवं निद्रा-आलस्य-प्रमाद । तमके रूप हैं त्रिविध ।
निरुपाधिकके होते बंध । धनंजय ॥ ९३ ॥

आगसे जब घिरता काठ । तब दीखता आगसा काठ ।
या आकाशको घिरता घट । कहलाता घटाकाश ॥ ९४ ॥

पानीसे जब ताल भरता । चन्द्र-बिंब उसमें भासता ।
वैसे गुणमें भी भास होता । आत्म-तत्वका ॥ ९५ ॥

सत्त्वं सुखे संजयति रजः कर्मणि भारत ।
ज्ञानमावृत्य तु तमः प्रमादे संजयत्युत ॥ ९ ॥

रजस्तमश्चाभिभूय सत्त्वं भवति भारत ।
रजः सत्त्वं तमश्चैव तमः सत्त्वं रजस्तथा ॥ १० ॥

सुखमें जोडता सत्व कर्ममें जोडता रज ।
ढकके ज्ञान संपूर्ण भ्रममें डालता तम ॥ ९ ॥

जीतके अन्य दोनोंको तीसरा करता बल ।
ऐसा कभी बढे सत्व कभी रज कभी तम ॥ १० ॥

तीनों गुण समय समय पर बदलते रहते हैं—

पीछे कर कफ वात । आगे आता जब पित्थ ।
होता है तब संतप्त । जिस भांति ॥ ९६ ॥

आतप वर्षाको जीतकर । प्रकट होता शीत-लहर ।
आकाश तब जिस प्रकर । होता है शीत ॥ ९७ ॥

अथवा नाना स्वप्न-जागृति । मिटके आती सुषुप्ति ।
क्षण भर चित्त-वृत्ति । होती जैसे ॥ ९८ ॥

वैसे रज-तमको पराजित । करके सत्व होता प्रकाशित ।
जीव कहता है हो प्रमुदित । सुखी हूं मैं ॥ ९९ ॥

वैसे ही जब सत्व और रज । मिटाकर होता तमका राज ।
प्रवृत्ति होती है तब सहज । प्रमादकी ॥ २०० ॥

उसी भांति पांडुकुमार । सत्व-तमको हटाकर ।
उठाता है अपना शिर । रजोगुण ॥ १ ॥

कर्मके बिन अन्य कहीं । सुंदर कुछ भी है नहीं ।
इस भांति मानता देही । शरीरस्थ ॥ २ ॥

त्रिगुण वृद्धिका निरूपण । किया हैं श्लोकोंमें यहां तीन ।
सत्वादि गुण-वृद्धि लक्षण । सुनो अब ॥ ३ ॥

सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन्प्रकाश उपजायते ।
ज्ञानं यदा तदा विद्याद्विवृद्धं सत्त्वमित्युत ॥ ११ ॥
लोभः प्रवृत्तिरारम्भः कर्मणामशमः स्पृहा ।
रजस्येतानि जायन्ते विवृद्धे भरतर्षभ ॥ १२ ॥

प्रज्ञाका इंद्रियों-द्वारा प्रकाश सब ओर जो ।
देहमें फैलता सारा जानना सत्व है बढा ॥ ११ ॥

प्रवृत्ति लालसा लोभ कर्मारंभ अशांतता ।
फैलाव देहमें होता जानना तम है बढा ॥ १२ ॥

अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च प्रमादो मोह एव च ।
तमस्येतानि जायन्ते विवृद्धे कुरुनन्दन ॥ १३ ॥

यदा सत्त्वे प्रवृद्धे तु प्रलयं याति देहभृत् ।
तदोत्तमविदां लोकानमलान्प्रतिपद्यते ॥ १४ ॥

रजसि प्रलयं गत्वा कर्मसङ्गिषु जायते ।
तथा प्रलीनस्तमसि मूढयोनिषु जायते ॥ १५ ॥

सत्वस्थके स्वभाव-धर्म—

रज-तम पर पा विजय । सत्व करता देहपे राज्य ।
तब जो लक्षण धनंजय । दीखते वह सुन ॥ ४ ॥

प्रतिभा मानो शरीरके अंदर । न समानेसे छलकती बाहर ।
सुगंध जैसे महकती बाहर । वसंतमें कमलसे ॥ ५ ॥

जैसे सभी इन्द्रियोंके अंगनमें । खडा होता विवेक दास रूपमें ।
उगती हैं आंखें कर-चरणमें । उसके पार्थ ॥ ६ ॥

राजहंसके सम्मुख । रखनेसे क्षीरोदक ।
उसकी चोंचकी नोक । करता न्याय ॥ ७ ॥

वैसे दोषादोष विवेक । करती हैं इन्द्रियां देख ।
बनके रहता सेवक । निग्रह वहां ॥ ८ ॥

सुनते नहीं अश्रव्य कान । न देखते कु-दृश्य नयन ।
न बोलती अवाच्य वचन । वाणी जैसे ॥ ९ ॥

प्रमाद मोह अंधार आलस्य सब ओरसे ।
फैलाव देहमें होता जानना तम है बढ़ा ॥ १३ ॥

तजता देहको देही बढता सत्व है जब ।
जन्मता शुभ लोगोंमें सज्जनोंके समाजमें ॥ १४ ॥

रजमें लीन होता जो जन्मता कर्म-लिप्तमें ।
डूबता तममें सारा जन्मता मूढ-योनिमें ॥ १५ ॥